वार्षिक सदस्यता शुल्क - रु. २५/-

JULY-2024

स्वानुभूतिप्रकाश

प्रकाशक :
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट
भावनगर - ३६४ ००१.

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी द्वारा लिखित आध्यात्मिक पत्र

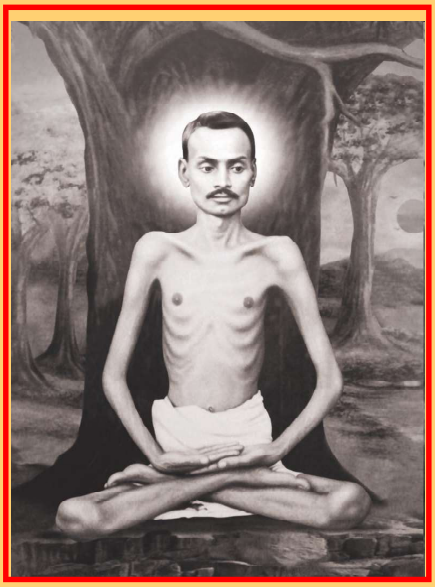

पत्रांक – ३७४

बंबई, वैशाख, १९४८

'चाहे जितनी विपत्तियाँ पडें, तथापि ज्ञानीसे सांसारिक फलकी इच्छा करना योग्य नहीं है।'

उदयमें आया हुआ अंतराय समपरिणामसे वेदन करने योग्य है, विषमपरिणामसे वेदन करने योग्य नहीं है।

आपकी आजीविका संबंधी स्थिति बहुत समयसे ज्ञात है; यह पूर्वकर्मका योग है।

जिसे यथार्थ ज्ञान है ऐसा पुरुष अन्यथा आचरण नहीं करता; इसलिये आपने जो आकुलताके कारण इच्छा अभिव्यक्त की, वह निवृत्त करने योग्य है।

ज्ञानीके पास सांसारिक वैभव हो तो भी मुमुक्षुको किसी भी प्रकारसे उसकी इच्छा करना योग्य नहीं है। प्राय: ज्ञानीके पास वैसा वैभव होता है, तो वह मुमुक्षुकी विपत्ति दूर करनेके लिये उपयोगी होता है। पारमार्थिक वैभवसे ज्ञानी मुमुक्षुको सांसारिक फल देना नहीं चाहते; क्योंकि यह अकर्तव्य है–ऐसा ज्ञानी नहीं करते।

धीरज न रहे ऐसी आपकी स्थिति है ऐसा हम जानते हैं, फिर भी धीरजमें एक अंशकी भी न्यूनता न होने देना, यह आपका कर्तव्य है; और वह यथार्थ बोध पानेका मुख्य मार्ग है।

अभी तो हमारे पास ऐसा कोई सांसारिक साधन नहीं है कि जिससे आपके लिये धीरजका कारण होवें; परंतु वैसा प्रसंग ध्यानमें रहता है; बाकी दूसरे प्रयत्न तो करने योग्य नहीं हैं।

किसी भी प्रकारसे भविष्यका सांसारिक विचार छोड़कर वर्तमानमें समतापूर्वक प्रवृत्ति करनेका दृढ़ निश्चय करना यह आपके लिये योग्य है। भविष्यमें जो होना योग्य होगा, वह होगा, वह अनिवार्य है, ऐसा समझकर परमार्थ-पुरुषार्थकी ओर सन्मुख होना योग्य है।

चाहे जिस प्रकारसे भी इस लोकलज्जारूप भयके स्थानभूत भविष्यका विस्मरण करना योग्य है। उसकी 'चिन्तासे' परमार्थका विस्मरण होता है। और ऐसा होना महान आपत्तिरूप है; इसलिये वह आपत्ति न आये इतना ही वारंवार विचारणीय है। बहुत समयसे आजीविका और लोकलज्जाका खेद आपके अंतरमें इकट्ठा हुआ है। इस विषयमें अब तो निर्भयता ही अंगीकार करना योग्य है। फिर कहते हैं कि यही कर्तव्य है। यथार्थ बोधका यह मुख्य मार्ग है। इस स्थलमें भूल खाना योग्य नहीं है। लज्जा और आजीविका मिथ्या हैं। कुटुंब आदिका ममत्व रखेंगे तो भी जो होना होगा वही होगा। उसमें समता रखेंगे तो भी जो होना योग्य होगा वही होगा। इसलिये नि:शंकतासे निरभिमानी होना योग्य है।

समपरिणाममें परिणमित होना योग्य है, और यही हमारा उपदेश है। यह जब तक परिणमित नहीं होगा तब तक यथार्थ बोध भी परिणमित नहीं होगा।

*

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५५०, अंक-३१९, वर्ष-२६, जुलाई-२०२४

श्रावण शुक्ल ९, मंगलवार, दि. २६-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन अंश, गाथा-१०४ से १०६ प्रवचन-४४

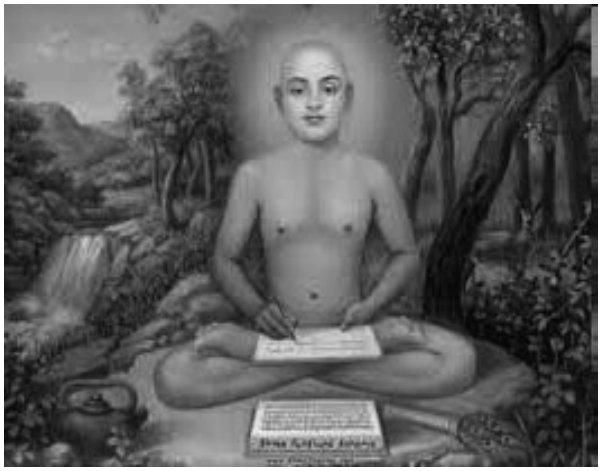

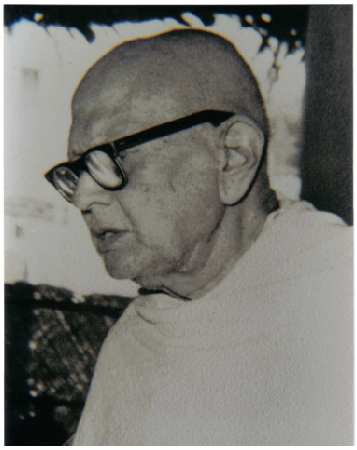

यह सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा हुआ जिसे बोध-ज्ञान जहाँ हो, उसे बौद्ध कहा जाता है। आहा...हा...! देखो! कहा है या नहीं इनने? **'बुद्धु सो जिणु'** उसे जिन कहते हैं, ऐसे आत्मा को जिन कहते हैं। वैसे तो जिन नाम धरानेवाले बहुत निकले, उसे **'ईसरु'** कहते हैं, उसे ईश्वर कहते हैं। पूर्ण शक्तिवाला ऐसा नाम उसे ईश्वर कहते हैं। समझ में आया?

ब्रह्मा कहा है न? फिर है **'बंभु'** लो! सत्य ब्रह्मा, **'क्योंकि अविनाशी परम ऐश्वर्य का धारी वही परमात्मा है, जो परमकृतकृत्य व सन्तोषी है। सर्व प्रकार की इच्छा से रहित है। वही परमात्मा सच्चा ब्रह्मा है....'** है न? **'बंभु' 'क्योंकि वह ब्रह्मस्वरूप में लीन है।'** भगवान आत्मा आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप में लीन है, उसे ब्रह्म कहते हैं। समझ में आया? यथार्थ धर्म का स्वरूप, उपाय बतलाता है, अथवा धर्म का कर्ता है, इसलिए ब्रह्मा है। दूसरे कहते हैं न ईश्वर को कर्ता.... परन्तु अपने स्वरूप का कर्ता इसलिए ब्रह्मा। उसे **'बंभु'** (कहते हैं।) लो, ऐसे अनन्त नाम लेना, अनन्त नाम लेना।

'हजारों नाम लेकर भावना करनेवाला भावना कर सकता है। नाम लेना वह तो निमित्त है।' परन्तु उसका स्वरूप जो आत्मा का है, उस प्रकार लक्ष्य में लेकर ध्यान करने का नाम वास्तव में ध्यान और संवर-निर्जरा है। नाम तो विकल्प है, कोई भी नाम लें, नाम लक्ष्य में लें तो विकल्प है। समझ में आया? फिर दृष्टान्त दिया है। **'जैसे निर्मल क्षीर समुद्र में निर्मल तरंगें ही उत्पन्न होती हैं, वैसे शुद्धात्मा में सर्व परिणमन अथवा वर्तन शुद्ध ही होता है।'** भगवान,

ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्मा आदि कहा आत्मा; उसका पूर्ण स्वरूप प्रगट होने पर स्वयं जब द्रव्य, गुण जब अपने शुद्ध और पूर्ण हैं, क्षीरसागर से भरा हुआ क्षीर सागर जब दूध से भरा हुआ है तो उसकी तरंगें भी दूध से भरी हुई हो सकती हैं। तरंगें-लहरें इसी प्रकार भगवान आत्मा द्रव्य-गुण जब शुद्धस्वभाव में अनन्त गुण का रसकन्दरूप है तो उसकी दशा होने पर पर्याय भी अनन्त शुद्ध गुण के परिणमन के उसकी तरंगें हैं। समझ में आया? उन अनन्त गुणों की पर्याय इतनी अनन्त उत्पन्न होती है, जैसे गुण-द्रव्य हैं, वैसी ही पर्याय निर्मल शुद्ध हो, तब उसे बुद्ध ईश्वर, ब्रह्मा, जिन कहा जाता है, कहो समझ में आया? शुद्ध ही होता है। लो, फिर दृष्टान्त दिया है। ठीक।

'समाधि शतक में कहा है - परमात्मा कर्ममल रहित निर्मल है, एक अकेले हैं इससे केवल हैं, वही सिद्ध हैं, वही सर्व अन्य द्रव्यों की व अन्य आत्माओं की सत्ता से निराला विविक्त हैं। वही अनन्त वीर्यवान होने से प्रभु हैं, वही सदा अविनाशी हैं, परम परमपद में रहने से परमेष्ठी हैं। यह सब नाम दिये हैं। समाधिशतक में, हाँ!'

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरक्षयः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः।। ६।।

भक्तामर में कितने ही नाम दिये हैं। कहो, समझ में आया? **'वही उत्कृष्ट होने से परमात्मा हैं, वही परमात्मा हैं, वही सर्व इन्द्रादि से पूज्य ईश्वर हैं, वही रागादि विजयी जिन भगवान है।'** लो! यह आत्मा एक समय में प्रभु द्रव्य से देखो तो निश्चय है, पर्याय से देखो तो व्यवहार है। तो जहाँ परिपूर्ण पर्याय हो गयी, उसे देखो तो प्रमाण ज्ञान में पूर्ण द्रव्य गुण और पूर्ण पर्याय प्रमाण है पूरा। समझ में आया? निश्चय में द्रव्य-गुण पूर्ण है और पर्याय पूर्ण नहीं, उसका ज्ञान करने से उस प्रकार का प्रमाण होता है, परन्तु पूर्ण प्रमाण तो पूर्ण पर्याय प्रगट हो, तब प्रमाण होता है। अब, १०६।

परमात्मदेव अपने देह में भी है

एव हि लक्खण-लक्खियउ जो परू णिक्कलु देउ।
देहहँ मज्झहिं सो वसइ तासु विज्जइ भेउ।।
१०६।।

इन लक्षण से युक्त जो, परम विदेही देव।
देहवासी इस जीव में, अरु उसमें नहिं भेद।।

अन्वयार्थ - (एव ही लक्खण-लक्खियउ जो परू णिक्कलु देउ) इस प्रकार ऊपर कहे हुए लक्षणों से लक्षित जो परमात्मा निरंजनदेव है (देहहँ मज्झहिं सो वसइ) तथा जो अपने शरीर के भीतर बसनेवाला आत्मा है (तासु भेउ ण विज्जइ) उन दोनों में कोई भेद नहीं है।

'परमात्मदेव अपने देह में भी है।' आहा...हा...! इस गाथा में जरा फर्क है। शीतलप्रसादजी की गाथा में **'एक हि लक्खण-लक्खियउ'** ऐसा नहीं चाहिए। **'एव हि लक्खण-लक्खियउ'** चाहिए। 'एक' शब्द पड़ा है न? यह 'एक' नहीं चाहिए। एव हि लक्खण यह सब कहे न? आत्मा के लक्षण सब कहे न? ऐसा चाहिए। उसमें ऐसा होगा, देखो! 'एव' है न? वह ठीक है क्योंकि जो इस प्रकार पंच परमेष्ठी रूप हैं, ब्रह्मा विष्णु आदि जिसके नाम हैं, उस रूप से आत्मा का जो स्वरूप है, उस प्रकार **'एव हि लक्खण लक्खियउ'** ऐसा। इस लक्षण से लक्षित (होवे), उसे आत्मा कहा जाता है। समझ में आया? अद्भुत बात, भाई! तब दूसरे कहते हैं। महाराज! आप तो बहुत समेट-समेट कर तुम्हारे आत्मा की बात लाते हो। सबके देव भी तुम्हारे में समाहित कर देते हो। दूसरे के देव भी तुम आत्मा में समाहित कर देते हो... परन्तु यह आत्मा ऐसा है, उसमें समाहित कहाँ करना? ऐसा ही है। समझ में आया? **'परमात्मदेव अपने देह में भी है। एव हि लक्खण-लक्खियउ'** - ऐसा चाहिए।

एव हि लक्खण-लक्खियउ जो परू णिक्कलु देउ।
देहहँ मज्झहिं सो वसइ तासु विज्जइ भेउ।।
१०६।।

इस प्रकार ऊपर कहे गये लक्षणों से लक्षित... लो! यह पाँच आचार्य ने सब कहा न? परमेष्ठी और... इस प्रकार... फिर अर्थ में ठीक किया है। **'लक्षणों से लक्षित जो परमात्मा निरंजन देव है...'** ऊपर जो सब नाम दिये पंच परमेष्ठी के (वे और) शिव, शंकर, विष्णु, रुद्र, बौद्ध, जिन, ईश्वर, और ब्रह्मा - ये सब लक्षण जो कहे, वे भगवान पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण का पिण्ड, उसका भान करके परिणति निर्मल आदि हुई; इसलिए वह **'परमात्मा निरंजन देव है।'** उसे परमात्मा निरंजनदेव कहा जाता है।

'यह अपने शरीर के अन्दर बसनेवाला आत्मा है....' यह सब परमात्मा का जो स्वरूप कहा, वह तेरे देह के भीतर-तेरे गर्भ में पड़ा है। समझ में आया? माता के गर्भ में लड़का हो तो उसे मनुष्य जन्मे। अन्दर में बन्दर हो और मनुष्य जन्मे? समझ में आया? बन्दरी के पेट बन्दर है तो बन्दर हो तो बन्दर जन्में। ऐसे ही भगवान के गर्भ में अनन्त परमात्मा ऐसे पड़े हैं, रहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं कि **'जो अपने शरीर के अन्दर बसनेवाला आत्मा है'** इस देह-देवालय में प्रभु विराजमान हैं। उसे यहाँ परमात्मा (आदि) सभी विशेषण उसे कहे गये हैं। वह अन्दर वस्तुरूप से विराजमान है। पर्यायदृष्टि में भले फर्क हो (परन्तु) वस्तुरूप से तो ऐसा का ऐसा परमात्मा विराजमान है। समझ में आया? आहा...हा...! यह भगवान तो ऐसा कहते हैं कि मेरे प्रति भी लक्ष्य छोड़ और तेरा लक्ष्य कर तो तू भगवान होगा। मुँह के सामने ग्रास भगवान को नहीं रुचता, (बाकी) सबको रुचता है। मुँह में पहला ग्रास लेकर फिर खिलाते हैं या नहीं। पिता और पुत्र साथ जीमते हों तो पहला खाये और फिर लड़के को ग्रास दे, एक थाली में खाते हों तो, फिर वह स्वयं चबाता जाये और थोड़ा उसे दे। वीतराग कहते हैं कि परन्तु यह नहीं, यहाँ तो मुँह में ग्रास की ही न है। (हमारी) भक्ति करो तो तुम्हारा कल्याण होगा। भगवान इनकार करते हैं। आहा...हा...! (क्योंकि) हम तुझसे परद्रव्य हैं न प्रभु! मेरे प्रति लक्ष्य जाने से तुझे राग होगा। इसलिए हम ऐसा कहते हैं - परमात्मा की वाणी में ऐसा आता है कि तू तेरे स्वभाव के आश्रय में जा तो परमात्मा होगा। समझ में आया? वह देह में बसा हुआ है, 'देह के मध्य में' भाषा प्रयोग की है, हाँ! फिर, अपने शरीर के अन्दर **'वसइ, तासु ण विज्जइ भेउ'** उन दोनों में कोई भेद न जान। ऐसे जो परमात्मा कहे, जितने गुण उतने नाम (कहे) वे सब तुझमें हैं, तू भेद न जान। आहा...हा...! समझ में आया? विशेष कहेंगे.....

(मुमुक्षु : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

*

जिनके जन्म-मरणकी गांठ (भेदित) नहीं हुई, उन्होंने जीवनमें कुछ भी नहीं किया और जिन्होंने गृहस्थाश्रममें भी जन्म-मरण रुपी ग्रंथीको भेद दिया - उन्होंने सब कुछ कर लिया। सिद्ध प्रभु तो उनके हाथ आ गये हैं।

- परमागमसार-२०६

परमागमसार बोल-२१६ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईका प्रवचन

''जिसने बाहर में किसी राग में - 'संयोग में - क्षेत्र में व ऐसे ही कहीं न कहीं या किसी द्रव्य में - क्षेत्र में - काल में, कुछ ठीक सा मानकर, वहां रुककर समय गँवाया है - उसने अपनी आत्मा को ठग लिया है।'' २१६

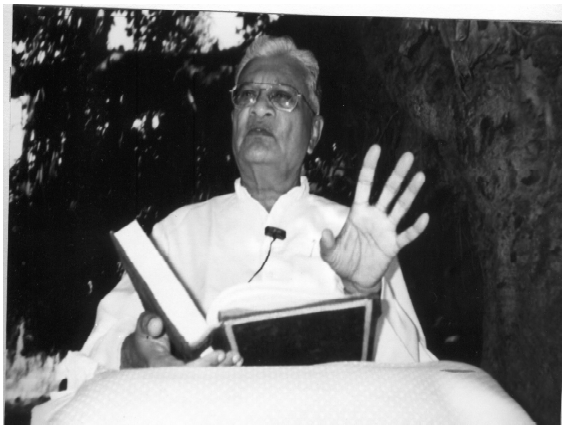

(परमागमसार, बोल) २१६। **'जिसने बाहर में किसी राग में - 'संयोग में- क्षेत्र में व ऐसे ही कहीं न कहीं या किसी द्रव्य में - क्षेत्र में - काल में, कुछ ठीक सा मानकर, वहां रुककर समय गंवाया है - उसने अपनी आत्मा को ठग लिया है।'** थोड़ी मार्मिक भाषा है। क्या कहते हैं? कि जीव समय गवाँ लेता है। देवलोक में बहुत बड़े-बड़े आयुष्य हैं। हलकी से हलकी जाति के जो व्यंतरदेव होते हैं उसका आयुष्य कम से कम दस हजार साल का होता है। वहाँ अघाति की स्थिति ही लंबी बंधती है। कषाय की मंदता में और तीव्रता में- दोनों में अघातिकर्म की स्थिति लंबी होती है। नीचे नरक में जाये तो वहाँ बड़ा लंबा आयुष्य और ऊपर देव में जाये तो वहाँ भी लंबा आयुष्य!

पहली नरक की पहली पृथ्वी में जघन्य आयुष्यधारक नारकियों की स्थिति दस हजार वर्ष की होती है। इससे कम आयुष्य किसी का नहीं होता। परंतु इन दोनों क्षेत्र में जानेवाले जीवों की यह स्थिति जो है वह अघातिकर्म की है। आयुष्य, नाम, गोत्र और वेदनीय इसमें नाम, गोत्र और वेदनीय तीनों आयुष्य के अनुपात में चालू रहते हैं। आयुष्य मुख्य प्रकृति है, अन्य तीनों इसके साथ रहती हैं।

कहते हैं कि बाहर में जो देवलोक का देव है उसका हज़ारों साल का (आयुष्य होता है)। (ऊपर जो कहा) वह तो कम से कम दस हज़ार वर्ष है। फिर तो वहाँ पल्योपम और सागरोपम के आयुष्य है! वह जो सागरों के लंबे आयुष्य हैं वह कैसे पूरे हो जाते हैं? कि उसे विश्राम मिल गया। उसको ऐसा लगा कि यह सब मुझे ठीक है, बहुत अच्छा है, मुझे यह सब अनुकूल है। ऐसे जब अनुकूलता में जीव विश्राम करता है, तब (उसमें) कितना काल चला गया यह पता नहीं चलता! वहां एक नाटक चले तो उसको पूरा होने में सैकड़ों-हजारों साल निकल जाते हैं। नाचना-गाना और अनेक प्रकार (के मनोरंजन), क्योंकि वहाँ उन्हें कोई आहार-निहार का प्रसंग तो है नहीं। अतः उसमें ही समय बीत जाता है। कषाय की मंदता में समय का व्यतीत होना, निर्गमन होना बहुत आसानी से होता है। इससे उलटा कषाय की तीव्रता में समय निकालना मुश्किल लगता है। नरक में एक-एक क्षण बिताना बहुत विकट लगता है। ऊपर (देवलोक में) हजारों वर्ष कहाँ बीत गये इसका ध्यान तक नहीं रहता। क्योंकि वहाँ (नरक में) कषाय की तीव्रता रहती है और यहाँ (स्वर्ग में) कषाय की मंदता रहती है।

अब इसी नजर से यहाँ भी देखे तो मनुष्य जीवन में, यदि बाहर में ज्यादा प्रतिकूलताएँ न हो परंतु

साधारणतया मनुष्योचित व्यवहार आसानी से चले ऐसी व्यवस्था, पूर्व पुण्य के उदयवश हो चुकी हो तो उसमें जिंदगी कैसे बीत गई पता नहीं चलता। ऐसा कहेगा - कितने वर्ष बीत गये पता ही नहीं चला! ऐसा कहते हैं कि नहीं? कहाँ वर्ष बीत गया और कहाँ दिन बीतते गये पता ही नहीं रहता है, इसका मतलब क्या हुआ?

प्रश्न :- समय सापेक्ष है?

समाधान :- नहीं, यहाँ point इतना ही लेना है कि जीव विश्राम में समय गवाँता है। विश्राम में उसे आसरा मिल जाता है, जैसे मुझे तो यहाँ ठीक लगता है! फिर वहाँ से चलने की बारी जब आती है - आयुष्य पूरा होने पर जीव को इसका प्रत्याघात आता है। पता चले कि शरीर की प्रकृति कोई असाधारणरूप से काम करती है, कभी ऐसी गड़बड़ी होगी कि आयुष्य पूरा हो जाएगा। ऐसा बड़ा फेरफार दिखते ही सीधा आघात उत्पन्न हो जाता है कि अरे...! (ये क्या)? ऐसा आघात क्यों लगा? क्योंकि वह विश्राम मानकर बेफिक्र था इसलिए आघात लगा। घर ठीक है, कुटुंब ठीक है, सगे-संबंधी ठीक हैं, बाहर की अनुकूलताएँ जरूरत के मुताबिक ठीक हैं। हालाँकि इसमें कोई न कोई आपत्ति तो होती ही है इस काल में। या घर में होगी या सगे-संबंधियों में होगी, या कोई दूसरी या सरकार की होगी। परंतु फिर भी जीव, संतोष मानकर कहीं न कहीं विश्राम करता है। सब अनुकूल न हो तो जितना अनुकूल होगा उसमें ठीकपने की कल्पना करके (रुकता है) कि इतना तो ठीक है! इसमें तो उपाधि नहीं है। इस प्रकार की उपाधि तो कम से कम नहीं है। ऐसा जानकर वहाँ विश्राम करता है, ऐसा कहते हैं। यह थोड़ी मार्मिक बात है।

'(कुछ ठीक सा मानकर,) वहाँ रुककर समय गँवाया है।' ऐसा कहते हैं। समय लिया न? उसका समय वहाँ जल्दी पसार हो जाता है। वहाँ उसे रस आता है। जीव को जहाँ रस आये वहाँ समय का - काल का निर्गमन कितना हो गया इसका ख़याल नहीं रहता और काल व्यतीत हो जाये इसका ख़याल नहीं रहता, यह जीव को रस आया है इसका लक्षण है। ऐसा आमने-सामने है।

इसीलिए ऐसा कहते हैं कि आत्मा को छोड़कर किसी एक प्रकार के राग में (अर्थात्) मुझे ऐसा करना है, ऐसा करना है, ऐसा करना है, ऐसा करना चाहता हूँ, ऐसे-ऐसे अनेकविध प्रकार के रागादि भाव होते हैं उसमें जीव को रस है, ऐसा कहते हैं। तो वहाँ उसका विश्राम है।

अमुक प्रकार के संयोग मेरे बने रहे, इतने संयोग तो मेरे बने रहे, इतने लोग इतने-इतने प्रकार से अनुकूल ऐसा जो कुछ जीव को (लगता है) उसने संयोग में विश्राम लिया है कि यह ठीक है! बस! बात पूरी हो गई। उसने वहाँ काल गँवाया।

यह क्षेत्र मेरे लिए अच्छा है, भावनगर जैसा कोई नहीं, दूसरी जगह हमें तो नहीं जमता। भावनगर में भी जिस गली व area (मोहल्ला) में रहता हो उसमें ही अच्छा लगे, अन्य कहीं भी नहीं। ऐसी परिस्थिति हो जाती है। घर बदलना पड़े तो भी नहीं सुहाता। घर में बिस्तर बदलना पड़े या room (कमरा) बदलना पड़े तो भी नहीं अच्छा लगता। अरे! नींद तक नहीं आती! ऐसी अनेक प्रकार की बुरी आदतें बन चुकी हैं जीव की! उसने जो जमाया है इसकी चुनाईमें से एक ईंट इधर-उधर हो जाये, या एक कील इधर-उधर हो जाये तो उसका आत्मा पूरा इधर से उधर हो जाता है!! (यहाँ) कहते हैं कि ये सारे रुकावट के स्थान नक्की कर रखे हैं। फँस गया! पूरा-पूरा इसीमें फँस गया, ऐसा कहते हैं। उसमें ही वह फँस गया है!

मुमुक्षु की तो ऐसी तैयारी होनी चाहिए कि चाहे कैसे भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हो, मुझे नहीं चलेगा या नहीं जमेगा यह प्रश्न ही नहीं हो सकता। यह चाहिए ही और इसके बिना नहीं चलेगा, यह बात होनी ही नहीं चाहिए, वरना फँसना हो जाएगा। वह जो फँस गया है

वहाँ से निकलना मुश्किल है, ऐसा है।

इसमें जीव सोच कैसे लेता है (कि) इतना होना तो एकदम सामान्य (है), ऐसा तो होना संभव है ही! कयोंकि हम कहाँ वीतराग हो चुके हैं? अभी तो हम घर-गृहस्थीवाले संसारी हैं, फलाँ हैं, इतना होगा ही, ऐसा मानकर दोष का बचाव करने जैसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि इसमें तो तेरा पूरा आत्मा ही धोखा खा गया। तूने अपनेआप को धोखा दे दिया। कैसा धोखा दे दिया? कि तेरा सम्यग्दर्शन व केवलज्ञान उसमें चोरी हो गया! ठगाई होना मतलब चोरी हो जाना। अगर सम्यग्दर्शन नहीं होगा तो केवलज्ञान नहीं होगा। नुकसान तो केवलज्ञान तक का है! ऐसा है वास्तव में तो। सामान्य नुकसान नहीं है। अतः मुझे ऐसा नहीं चलेगा और मुझे ऐसे संयोग चाहिए, ऐसे क्षेत्र चाहिए, मुझे तो ऐसा राग नहीं करना है परंतु वैसा राग करना है - यह सब बातें होनी ही नहीं चाहिए। ऐसा है।

कब परिणाम हरजगह से समेटकर आत्मा में ला सकते हैं या आ सकते हैं? कि ऐसे-ऐसे प्रकार में कहीं रुक न जाये तो। परंतु अगर कहीं भी विश्राम कर लिया कि, जैसे यह घर, यह कुटुंब, यह राग और यह संयोग और क्षेत्र, यह गाँव और यह मोहल्ला, यह room! कहते हैं कि इसमें अगर तुझे विश्राम है तो तेरा पूरा आत्मा वहाँ धोखा खा गया है ! तेरा आत्महित वहाँ चोरी हो गया व तूने उसे लुटा दिया जिसका तुझे खयाल तक नहीं रहता है!!

यह तो गुरुदेव जैसे महापुरुष ने बहुत मंथनपूर्वक सब प्रसिद्ध किया है। कितना-कितना मंथन किया! जिसका यह दोहन है।

मुमुक्षु :- महान उपकार है।

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अवश्य! जीव को एक-एक जगह से खींचकर निकाला है जैसे देख! यहाँ मत फँसना, तू यहाँ मत फँसना, यहाँ भी मत फँसना। कोई भी राग में ठीकपना मत मानना। आखिर में राग तो राग ही है, जिसकी कोई कीमत नहीं है। कहीं भी फँसने नहीं दिया जीव को! ऐसा ही कोई उपदेश है!! आत्महित का उपदेश चारों तरफ से आत्मा को अंतर में ले आये, ऐसा उपदेश है।

कहते हैं कि किसी भी राग में (विश्राम लेने जैसा नहीं है)। संयोग-वियोग तो राग का फल है। क्षेत्र का संयोग-वियोग यह भी रागादि भावों का फल है। किसी भी जीव में, किसी भी अजीव में यानी कि किसी भी द्रव्य में, किसी भी क्षेत्र में (विश्राम लेने जैसा नहीं है)।

ये मुनि जो हैं वे एक क्षेत्र में नहीं रहते हैं न! कोई मुनि एक क्षेत्र में विहार दौरान स्थिर नहीं रहते। इसके पीछे क्या कारण है? क्योंकि मुनियों को किसी भी क्षेत्र का इतना राग नहीं होता कि अब यह क्षेत्र ठीक है। लेकिन क्या ऐसा नहीं होना चाहिए कि जहाँ धर्मी बसते हो वहाँ मुनि रहे तो अच्छा, क्योंकि धर्मप्रभावना बढ़ेगी, क्या मुनियों के अभिप्राय में - विचार में ऐसा नहीं होगा? जहाँ धर्मी जीव ज्यादा हो, धर्म की भावनावाले जीव ज्यादा हो, उन साधर्मियों को उपदेश देना, उन साधर्मियों का आत्महित हो व शासन के कार्यों को प्रोत्साहन मिले - वृद्धि हो, वहाँ मुनि को स्थिर होकर नहीं रहना चाहिए? (कहते हैं कि) नहीं। यह मुनियों की मर्यादा में नहीं है। मुनि को किसी क्षेत्र का, किसी दूसरे जीवों को - द्रव्यों का (राग नहीं होता)।

खुद को जब ज्ञान हुआ है तो मुनिपना बाद में ले ले! पहले कुटुंबवालों को, कुटुंबियों को तो ज्ञान देकर सबका उद्धार कर ले! उनको तिराने का काम तो पूरा कर ले, बाद में मुनिपना ले ले! (ऐसा) कुछ नहीं होता। किसी द्रव्य से राग नहीं, किसी भी राग का राग नहीं है। (जहाँ) राग का राग नहीं होता (वहाँ) फिर राग के फल में बाहर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, इनका जो संयोग-वियोग है, इनकी पकड़ तो रहने का सवाल ही नहीं रहता। ऐसा जिसको नहीं होता उसने विश्राम ले लिया, विश्राम में काल व्यतीत किया है। आयुष्य पूरा कर देता है। मृत्यु के समीप प्रतिक्षण जाता रहता है।

दुनिया के नाप से यह नाप अलग है। गुरुदेवश्री

दृष्टांत देते थे तब कहते थे कि, बच्चे के सामने माँ जब देखती है तब ऐसे देखती है कि, मेरा बेटा हररोज बड़ा होता जा रहा है। एक साल का हुआ, दो साल का हुआ, पाँच साल का हुआ, पचीस साल का युवान हुआ। तो (ज्ञानी) कहते हैं कि लेकिन भाई! वह आयुष्य में छोटा होता जा रहा है। वैसे उम्र बढ़ती जा रही है लेकिन आयुष्य घटता जाता है। वह हररोज मृत्यु के समीप जा रहा है, इसका विकल्प नहीं आता! इसका विचार नहीं आता है! जबकि आत्मार्थी जीव का एक लक्षण है, अनेक लक्षणोंमें से एक लक्षण यह भी है कि उसे समय की बहुत कीमत होती है, उसे लगता है कि मेरे पास बहुत कम समय है और काम बहुत करना बाकी है, अतः फालतू समय मेरे पास नहीं है - यह एक उसका लक्षण है।

१७ साल की उम्र में सम्यग्दर्शन नहीं हुआ था तो पूज्य बहिनश्री को लगता था कि अरे...! १७-१७ साल चले गये उम्रमें से! फिर भी अभी धर्म की प्राप्ति, आत्मा की प्राप्ति नहीं है, कल-परसों पचीस हो जायेंगे! अभी तो विचारधारा को शुरू हुए साल-दो साल हुए हैं, फिर भी देर हो रही है व तेज़ी से काम कर लेना चाहिए, ऐसा झुकाव, परिणमन में तथारूप झुकाव आये बिना रहता नहीं। यह परिस्थिति होती है।

पंद्रह साल की उम्र में जो सूझ आयी वह बचपन से क्यों नहीं आयी, ऐसा तब लगता था! ठीक! अभी तो कुमारावस्था है फिर भी देर हो गई ऐसा लगता है। यह तो जनमघूँटी में ही जैसे मिलना चाहिए था। आत्मा के संस्कार तो जैसे कोई जनमघूँटीमें से मिल जाते तो अच्छा था, यह तो बहुत देर हो गई! जीव का शीघ्रता से - त्वरा से काम करने का यह जो प्रकार आता है, वह उसको अपने ध्येय में निष्फल नहीं होने देता। यह इसका बहुत सुंदर लक्षण है।

जो प्रमाद में काल गँवाता है (उसको तो ऐसा लगता है कि) ठीक है! कुछ तो हम करते हैं! एकदम कुछ भी नहीं करते ऐसा थोड़ी है? हररोज कुछ न कुछ तो करते ही हैं। इससे ज्यादा तो हम करे भी क्या? शक्ति है उतना करते हैं। (यहाँ) कहते हैं कि मुझे देर हो रही है यह प्रकार अभी उसका नहीं हुआ। उसने वहाँ विश्राम कर लिया है। प्राप्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में रुककर समय गँवाया है। पूरे आत्मा को वह ठगता है! यह परमात्मपद को ठगने की बात है!! यह प्रकार, यहाँ जिसको आत्म-प्राप्ति करनी है, उसके लिए उचित व अनुकूल नहीं है। इस पर यहाँ ध्यान दिलाया है। कहीं बोल ऐसे आते हैं जिसमें सावधान करते हैं कि देख! तुम धर्म के क्षेत्र में हो लेकिन line ठीक कर लेना! वरना पूरा आत्मा धोखे में रह जाएगा!! ऐसी अनेक बातें इसमें हैं। (यह २१६ बोल पूरा हुआ)।

*

आभार

'स्वानुभूतिप्रकाश' (जुलाई-२०२४, हिन्दी एवं गुजराती) के इस अंककी समर्पणराशि
१) स्व. श्री महेन्द्रभाई नौतमलाल शेठ, कोलकाटाके स्मरणार्थ हस्ते सरलाबहिन शेठ
और
२) एक मुमुक्षु, भावनगर की ओर से ट्रस्टको साभार प्राप्त हुई है।
अतएव यह पाठकों को आत्मकल्याण हेतु भेजा जा रहा है।

'समकित का बीज'

-पूज्य भाईश्री शशीभाई

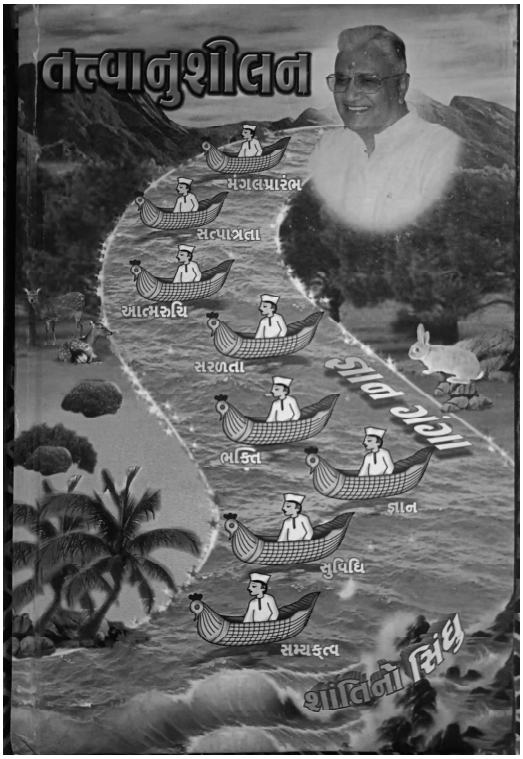

सम्यग्दर्शन के अभिलाषी जीवों को यह अवश्य विचार करने योग्य है कि : सम्यक्त्व का बीजभूत कारण क्या हो सकता है? अतएव इस परिप्रेक्ष्य में परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के अनेक विधानों का अनुसंधान कर इस विषयपर यहाँ यथाशक्य प्रकाश डालना उचित लगता है।

इस विषय में तीन बातें विचारणीय हैं:

(१) अनंतकाल से परिभ्रमण करते इस जीव ने यम, नियम, संयम और शास्त्राभ्यास आदि अनेक धर्मसाधन करनेपर भी कोई बीजभूत भूल रहती आयी है कि जिस कारण को लेकर जीव मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं कर सका।

(२) उपर्युक्त बीजभूत भूल कौन सी है? वह कैसे मिटे? तथा उसके मिटने की परिस्थिति क्या हो सकती है?

(३) उपर्युक्त बीजभूत भूल मिटने से जीव के परिणाम किस प्रकार से वर्ते कि जिससे वे परिणाम विकास प्राप्त कर शुद्धात्मस्वरूप की पहचान हो कर, परमार्थ निर्विकल्प सम्यक्त्व को प्राप्त कर निर्वाणमार्ग में प्रवेश करे?

जिनागम में प्रसिद्ध है कि मोक्ष का मूल सम्यग्दर्शन है अथवा धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। 'दंसणमूलो धम्मो'-यह आगम का सूत्र सर्वविदित है। वर्तमानकाल में सम्यग्दर्शन अति दुर्लभ है इतना ही नहीं अपितु तीनोंकाल में उसकी दुर्लभता समझनी योग्य है। अनंत काल में अनंतबार अनेक प्रकार के धर्मसाधन करने पर भी उसकी प्राप्ति नहीं हुई यही उसकी दुर्लभता सिद्ध करती है। इसलिये विचारवान जीव को सम्यक्त्व प्राप्ति हेतु उसके अंगभूत कारण तथा कारण के कारण तक का विचार करना आवश्यक है।

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्र जी पत्रांक-२४९ में स्पष्ट लिखते हैं कि 'प्रायः सत्पुरुष के दर्शन और योग की इस काल में अप्राप्ति दिखाई देती है। जब ऐसा है, तब सद्धर्मरूप समाधि मुमुक्षु पुरुष को कहाँ से प्राप्त हो? और अमुक काल व्यतीत होनेपर भी जब ऐसी समाधि प्राप्त नहीं होती तब मुमुक्षुता भी कैसे रहे?..... सम्यक्त्वप्राप्त पुरुष का निश्चय होने पर और योग्यता के कारण से जीव सम्यक्त्व पाता है।... और इससे यह निश्चय होता है कि उस योग का और उस प्रत्यक्ष चिंतन का फल मोक्ष होता है, क्योंकि सत्पुरुष ही 'मूर्तिमान मोक्ष' हैं।

उपर्युक्त वचनामृत के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि अनंतकाल में जीव इस जगह भूला है। जीव की यह बीजभूत भूल हुई है। यानी कि यम, नियम, संयम और शास्त्रज्ञान इत्यादिक अनंतबार किये हैं

परन्तु सत्पुरुष का निश्चय / पहचान न होने के कारण वे सभी साधन ज्ञानीपुरुष की आज्ञा से नहीं हुए; जिससे वे सर्वसाधन बंधनरूप हुए हैं। अनंतकाल में सजीवन मूर्ति का योग अनंतबार हुआ है मगर पहचान नहीं हुई; इसलिये प्रायः पूर्व में हो गये महा पुरुषों की भक्ति आदि करने में आती है। इसी पत्र-२४९ में वे फरमाते हैं कि 'पूर्व में हो गये महापुरुषों का चिंतन कल्याणकारक है; तथापि वह स्वरूपस्थिति का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि जीव को क्या करना चाहिये यह बात उनके स्मरण से समझमें नहीं आती। प्रत्यक्ष योग होने पर बिना समझाये भी स्वरूपस्थिति का होना हम संभवित मानते हैं।'

उपर्युक्त वचनामृत के अनुसंधान में आपश्री ने पत्र-१७२ में अत्यंत महत्त्व के विषय का प्रतिपादन किया है कि 'निरंतर उदासीनता के क्रम का सेवन करना; सत्पुरुष की भक्ति में लीन होना; सत्पुरुषों के चरित्रों का स्मरण करना; सत्पुरुषों के लक्षण का चिंतन करना; सत्पुरुषों की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन करना; उनके मन, वचन और काया की प्रत्येक चेष्टा के अद्भुत रहस्यों का बारंबार निदिध्यासन करना; और उनका मान्य किया हुआ सभी मान्य करना।- यह ज्ञानियों द्वारा हृदय में स्थापित, निर्वाणके लिये मान्य रखने योग्य, श्रद्धा करने योग्य, वारंवार चिंतन करने योग्य, प्रतिक्षण और प्रति समय उसमें लीन होने योग्य परम रहस्य है। और यही सर्व शास्त्रों का, सर्व संतों के हृदय का और ईश्वर के घर का मर्म पाने का महामार्ग है। और इन सब का कारण किसी विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति और उनके प्रति अविचल श्रद्धा है। अधिक क्या लिखना? आज, चाहे तो कल, चाहे तो लाख वर्ष में और चाहे तो उसके बाद में या उससे पहले, यही सूझनेपर, यही प्राप्त होने पर छुटकारा है।'

उपर्युक्त वचनामृत में अत्यंत स्पष्ट निर्देश है किः किसी विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति होनेपर यदि उसकी पहचान हो, तो जीव सर्व उदय के प्रति उदासीन होकर सत्पुरुष की भक्ति के प्रति लीन होने इत्यादि के उक्त परिणामों में परिणमित होता है और जिससे उस जीव को निर्वाणपद के अधिकारी होने की पात्रता समुत्पन्न होती है। यानी कि यथार्थ प्रकार से उस जीव के दर्शनमोह का अनुभाग घट कर वह उपशम होने योग्य स्थिति को प्राप्त करता है। दर्शनमोह अन्य किसी भी घर्मसाधन से यथार्थरूप से मंद न होने के कारण विचारवान जीवों ने इस मार्ग का ग्रहण किया है। उक्त वचनामृत में तद्विषयक महत्त्व समझाने हेतु अत्यंत भारपूर्वक विधान किया है।

तदुपरांत आपश्री ने 'आत्मसिद्धि शास्त्र' में वर्णित समकित के प्रकारों का विशेषार्थ समझाते हुए तीन प्रकार के समतिक दर्शाये हैं। जिसमें पहला समकित यानी कि निर्विकल्प परमार्थअनुभवरूप समकित के कारण का कारण 'सत्पुरुष की पहचान तथा उस पहचान से प्राप्त वचन की प्रतीति, आज्ञा की अपूर्व रुचि और स्वच्छंदनिरोधता से सत्पुरुष की भक्ति' इत्यादिक परिणाम दर्शाये हैं।

तथापि, अनादि काल से वर्तमान तक के अनंतकाल में एकबार भी सत्पुरुष की पहचान नहीं हुयी। इसलिये तथारूप पहचान न होने संबंधी कारण विचारणीय हैं। सत्पुरुष की पहचान होने में किस प्रकार के प्रतिबंधक भाव होते हैं उन्हें समझकर, उनका अभाव करना योग्य है। कारण कि सत्पुरुष की पहचान होनी वह सम्यक्त्व के कारण का बीज है। अर्थात् सम्यक्त्व का कारण आत्मस्वरूप की पहचान है, तथा वह पहचान होने की योग्यता, विद्यमान सत्पुरुष की पहचान के सिवा कभी किसी को प्राप्त नहीं होती। कारण कि आत्मस्वरूप मूलतः शक्तिरूप तत्त्व है। जब कि सत्पुरुष के स्वरूप में प्रगटरूप से आत्मस्वरूप व्यक्त हुआ है। अतएव व्यक्त की पहचान

हुए बिना अव्यक्त की पहचान होनी असंभव है।

ज्ञानीपुरुष की पहचान न होने में जीव के तीन महान दोष जानने योग्य हैं : एक तो 'मैं जानता हूँ', 'मैं समझता हूँ' इस प्रकार का जो अभिमान जीव को रहा करता है; ऐसे 'स्वच्छंद' के कारण ज्ञानी के विषय में अपने समान कल्पना रहा करती है, और अपनी कल्पना के अनुसार ज्ञानी के वचन का तोलन किया जाता है। इस प्रकार के स्वच्छंद के कारण, थोड़ा भी शास्त्र-वाचन आदि क्षयोपशमज्ञान होने से अनेक प्रकार से उसे प्रदर्शित करने की जीव को इच्छा रहा करती है। परलक्ष्य और असत्संग के कारण इस प्रकार से वर्तता जीव ज्ञानी से अनजान रहता है।

दूसरा, कुटुम्ब - परिग्रहादिक में ज्ञानीपुरुष की अपेक्षा विशेष राग जब तक रहता है तब तक ज्ञानीपुरुष के प्रति जितना विनयान्वित होना चाहिए व उनकी आज्ञा का अनुसरण करना चाहिए उसमें वह भाव (राग) आड़े आता है। असार और अशरणभूत ऐसे कुटुम्ब-परिग्रहादिक में महत्ता व अधिकता के परिणाम रहते हैं उसके कारण लौकिकभावना और लोकप्रतिबंध से उदास होना नहीं बन सकता। राग के विषय में भी जब तक उपर्युक्त फेरफार होकर, ज्ञान-ध्यान इन सब के कारण जो ज्ञानीपुरुष और उनकी आज्ञा का अनुसरण करने का महत्त्व भास्यमान होकर अधिकता नहीं आती तब तक जीव ज्ञानीपुरुष से अनजान रहता है।

तीसरा, लोकभय के कारण, यानी कि लोक में अपकीर्ति होने के भय के कारण व अपमान होने के भय के कारण, ज्ञानीपुरुष विद्यमान होनेपर भी उनके प्रति उपेक्षा का सेवन अथवा तो ज्ञानी से विमुख रहना बनता है। अथवा तो उनके प्रति जितना विनयान्वित होना चाहिए उतना न होना।

-ये तीन कारण जीव को ज्ञानी से अनजान रखते हैं इसलिये जैसे बने वैसे आत्मकल्याण की भावना करके उन्हें कम करना अथवा निवृत्त करना आवश्यक है। उपर्युक्त कारणों के सद्भाव में रहकर जीव अन्य अनेक प्रकार के धर्मसाधन करे तो भी वह, सम्यक्त्व की प्राप्ति या उसकी कारणभूत स्थिति में नहीं आ सकता।

तो अब, ज्ञानी की पहचान कैसे हो? कि : ज्ञानीपुरुष की पहचान जीव को 'दृढ़ मुमुक्षुता' आने के बाद होनी संभव है। ज्ञानदशा या वीतरागदशा दैहिक स्वरूप तथा दैहिक चेष्टा का विषय नहीं है बल्कि वह आत्मा का अंतरात्मगुण है। और वैसी अंतरात्मा जगतवासी जीवों, मंद दशावान मुमुक्षुओं या मध्यमदशा के मुमुक्षुजीवों के अनुभव का विषय न होने से, एवं वैसे प्रकार का अनुमान भी कर सके ऐसी उनकी योग्यता न होने से, वे ज्ञानी को नहीं पहचान सकते। परन्तु कोई जीव जिसकी कि होनहार अच्छी होती है वह सत्समागम के योग से वैसी योग्यता प्राप्त करके ज्ञानी को पहचान लेता है, तब प्रथम सत्समागम के काल में उस जीव को अकुलानेवाले अनेक प्रकार के असमाधानों के प्रकारों का समाधान अंत्तर से प्राप्त होता है और उसके प्रमाण में उसे यथाशक्ति ज्ञानी के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है। परन्तु वास्तविक पहचान तो दृढ़ मुमुक्षुता प्रगट होनेपर, तथारूप सत्समागम से स्वयं को प्राप्त वर्तमान प्रयोजनभूत उपदेश का अमलीकरण होने से अर्थात् अपने वर्तमान प्रयोजन के विषय को तत्काल प्रयोग में ले जा करके, अंतर में आत्मवृत्ति से परिणमन होने पर यानी कि बाह्यदृष्टि से - बाह्यत्याग व बाह्यक्षयोपशम ज्ञान की महिमा - छट करके, जीव ज्ञानी को पहचान सकता है।

उपर्युक्त प्रकार की योग्यता से मुमुक्षुजीव उत्तमकोटि की मुमुक्षुता में वर्तता होने से वह ज्ञानी की वाणी का आशय समझ सकता है। उसी भाँति उसे ज्ञानी की वाणी के विलक्षण प्रकार के गुण - विशिष्टताये - जैसे कि पूर्वापर अविरोधता; आत्मार्थ-

उपदेशकता; और अपूर्व अर्थ का निरूपण (अर्थात् ऐसे निरूपण से उस मुमुक्षु को अपने भावों में अपना आत्महितरूप प्रयोजन अपूर्वरूप से भासना); एवं अनुभवसहितपना; तथा आत्मा को सतत जाग्रत करनार; इत्यादि अनेक विशेषतायें-समझ में आती हैं। ऐसा उपदेश, आत्मस्वरूप के सभानपने में ही दिया जा सकता है। और उक्त प्रकार के आशय का उपदेश, भानसहित पुरुष के बिना नहीं दिया जा सकता, ऐसा सहज ही समझा जा सकता है। तब ज्ञानीपुरुष की मुखम्द्रा द्वारा व उनकी, मन, वचन, काया की विलक्षण चेष्टा द्वारा ज्ञानीपुरुष को पहचानना बनता है। उसमें भी ज्ञानीपुरुष के नेत्रों में जो वीतरागता, अंतर्मुखता व निर्लेपता आदि भाव, मुमुक्षुजीव को - उत्कृष्ट मुमुक्षुभूमिका में प्राप्त ज्ञान की निर्मलता से - वाचने को मिलते हैं; जिससे उनके प्रति अचल प्रेम और सम्यक् प्रतीति उत्पन्न होती है।

वास्तविकता का एक अटल और सर्वसामान्य मनुष्यों के अनुभवगोचर हो वैसा सिद्धांत यह है कि : परिणमन देखनेवाले को, जो परिणमन स्वयं देखता है वैसा, परिणमन सहज आविर्भूत होता है। जैसे कि अन्य के हर्ष-शोक के परिणामों को देखने से देखने वाले को भी हर्ष-शोक के भाव सहज आ जाते हैं। यहाँ सिद्धांत में ज्ञानीपुरुष के अंतरपरिणमन के द्वारा ज्ञानदशा के अपूर्वभाव, जो अंतर में निजपरमात्मपद के अलौकिक पुरुषार्थ से आलंबन लेते हैं और उन भावों का स्वरूप स्वरूपाकार होने से ज्ञानीपुरुष में परमात्मतत्त्व का दर्शन होता है; जो ज्ञानीपुरुष में परमेश्वरबुद्धि उत्पन्न करता है। और वह बुद्धि, मुमुक्षुजीव को सर्व प्रकार के प्रतिबंध से मुक्त करती है। जिससे अनुक्रम से वह मुमुक्षु, जिसके चरणारविंद का उसने सेवन किया है उनकी दशा को प्राप्त होता है अर्थात् अवश्य ज्ञानदशा को प्राप्त करता है।

अब, जब मुमुक्षुजीव को ज्ञानीपुरुष की पहचान होती है तब उसकी योग्यता में अनेक प्रकार के जो परिवर्तन होते हैं वे भी यहाँ ध्यातव्य हैं : ज्ञानीपुरुष की पहचान होनेपर जीव के अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ फीके पड़ने का (अनुभाग घटने का) प्रकार बनने योग्य है; ऐसे मुमुक्षुजीव के मताग्रह, दुराग्रहादि भाव भी छूट जाते हैं अथवा ढीले पड़ जाते हैं; और अपने दोष करने के प्रति चित्त मुड़ा करता है। सबसे महत्त्व का फेरफार यह होता है कि उसे विकथा आदि में तथा धार्मिकचर्चा में अप्रयोजनभूत विषय में बिलकुल नीरसता लगती है या जुगुप्सा उत्पन्न होती है। उसी भाँति अनित्यादि भावना के चिंतवन के प्रति बल वीर्य स्फुरण हेतु जो ज्ञानीपुरुष से श्रवण किया है या शास्त्र में पढ़ा है उससे भी बलवान परिणाम के द्वारा वह अपने संयोगों के प्रति अनित्यता, अशरणता और असारता को दृढ़ करता है। जिससे सत्पुरुष को पहचानने के पूर्व, संयोग व पंचविषयादि के प्रति, जिस प्रकार के रसवाले परिणाम थे वैसे परिणाम नहीं रहते और जीव यथार्थ प्रकार के वैराग्य में आता है।

वास्तव में तो अनंतकाल में दुर्लभ ऐसा जो आत्मज्ञान, वह सत्पुरुष का योग होने के बाद कुछ भी दुर्लभ नहीं है अर्थात् सहज और सुलभ है। कारण कि उस जीव को सत्पुरुष में, उनके वचनों में, उन वचनों के आशय में अत्यंत प्रीति - भक्ति होती है जिससे कि यथार्थ प्रकार से दर्शनमोह विगलित होकर उपशम होने योग्य होता है कि जिससे समकाल में स्वानुभूतिरूप आत्मज्ञान की उत्पत्ति होती है । जब तक ऐसी दशा नहीं आती तब तक ऐसा समझने योग्य है कि जीव को मूल में ही आत्मकल्याण की यथार्थ भावना उत्पन्न नहीं हुई, तथा उस जीव को सत्पुरुष का अपूर्व योग प्राप्त हुआ है ऐसा उसे भासित भी नहीं हुआ है।

जीव को सत्पुरुष का योग होने पर और पहचान होनेपर ऐसा समझ में आता है कि, आजपर्यंत जो

प्रयत्न मेरे कल्याणार्थ थे वे सभी निष्फल थे, लक्ष्यविहीन बाण जैसे थे। परन्तु अब सत्पुरुष का अपूर्व योग हुआ है जिससे मेरे सर्व साधन सफल होने का कारण मुझे प्राप्त हुआ है। मैं आत्महित के अलौकिक मार्ग से अनजान हूँ तथा मैंने अनुभवी मार्गदृष्टा पुरुष का शरण ग्रहण किया होने से, मार्ग के प्रति चलने में चूक होगी तो, वे अवश्य मुझे बचा लेंगे। वह जीव तब से - लोकसंज्ञा से जो निष्फल औक निर्लक्ष्य साधन किये थे वे अब सत्पुरुष के योग से न करने पर - अंतरात्मा में विचार करके दृढ़ परिणाम रखकर जागृत हो जाता है। उसे ऐसा भासता है कि इस योग से मेरे जीव को अपूर्व फल प्राप्त होने योग्य है अतएव उसमें अंतराय करनेवाला 'मैं जानता हूँ' ऐसे प्रकार का जो अभिमान न हो उसकी तीक्ष्ण जागृति आति है। उसी भाँति - 'संप्रदाय में होनेवाली क्रियाओं का तथा कुलपरंपरा से होते धर्मकार्यो का कैसे त्याग हो सके?' ऐसा - लोकभय, या सत्पुरुष की भक्ति में भी लौकिकभाव नहीं होता। सत्पुरुष की पहचान हो जाने के पश्चात्, कदाचित् ज्ञानी के कोई पंचविषयाकार कार्य उदय में देखकर, मुमुक्षुजीव भूल से भी वैसे भाव का आलंबन या आराधन (जो अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का प्रकार है) नहीं करता।

- इस प्रकार से ज्ञानीपुरुष की पहचान, निर्वाणमार्ग का एक बीजभूत प्रत्यक्ष कारण होने से और तथाप्रकार की योग्यता में आने से उस जीव को आत्मस्वरूप की पहचान व लक्ष्य होने योग्य क्षमता प्राप्त होती है कि जिसमें परमार्थ की स्पष्ट अनुभवांश से प्रतीति होती है जिससे निर्विकल्प परमार्थ अनुभवरूप सम्यग्दर्शन की अल्प काल में प्राप्ति होती है। निश्चय सम्यग्दर्शन के ये दोनों कारण (कारण और उसका कारण) वीतरागों ने मान्य किये हैं; अतएव ये तीनों (समकित) सम्मत करने योग्य हैं, उपासना करने योग्य हैं, सत्कार करने योग्य हैं; और भक्ति करने योग्य हैं।

सारांश के रूप में कृपालुदेव के वचनामृत (८१७) का यहाँ उद्धरण करना योग्य है : 'आत्मदशा को पाकर जो निर्द्वन्द्वता से यथाप्रारब्ध विचरते हैं, ऐसे महात्माओं का योग जीव को दुर्लभ है। वैसा योग मिलनेपर जीव को उस पुरुष की पहचान नहीं होती, और तथारूप पहचान हुए बिना उस महात्मा का दृढ़ाश्रय नहीं होता। जब तक आश्रय दृढ़ न हो तब तक उपदेश फलित नहीं होता। उपदेश के फलित हुए बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना जन्मादि दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति नहीं बन पाती।'

उक्त वचनामृत्त में लेखांक का सार स्पष्ट है जो आत्मार्थीजीव को निजहितार्थ उपासनीय है।

*

('तत्वानुशीलन' में से साभार उद्धृत)

आत्माका सामर्थ्य जीवंत - बेहद जीवंत है। अतः उसका अनुभव इसके अवलंबनसे प्रत्यक्ष होता है। श्रीगुरु फरमाते हैं कि : देखो रे! अपने जीवंत स्वामीको देखो! देखते ही सर्वस्व मिल जाएगा। कृतकृत्यता अनुभवमें आयेगी। सच्चे आत्मार्थीको मार्गकी सुगमता होनेमें स्वभाव सामर्थ्यरूप उपादान कारण है।

- अनुभव संजीवनी-१२८४

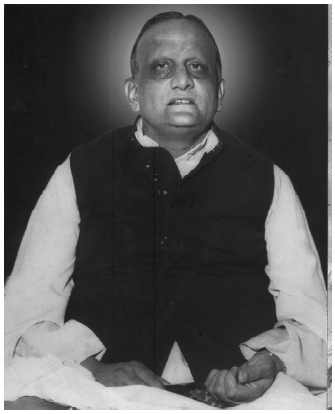

'द्रव्यदृष्टि प्रकाश'में से 'सम्यक्ज्ञानकी प्रवृत्ति' सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजीके चयन किये गये वचनामृत

निश्चयाभास (होने) का भय छोड़ देना चाहिए; निश्चयाभासी तो तब कहें कि - जब पर्याय में स्वाभाविक सुख प्रकटा न हो। परंतु जिसको सुख प्रकट (अनुभव) हुआ है, वह निश्चयाभासी नहीं है। (२११)

*

तुम पंद्रह साल का संबंध कहते हो, लेकिन हमारे तो वर्तमान विकल्प जितना ही, एक क्षण का संबंध है, यह विकल्प छूटा... कि...फिर खलास!

चक्रवर्ती (सम्यग्दृष्टि) को छियानवे हजार रानियाँ और वैभव आदि होनेपर भी वर्तमान जिस पदार्थ की ओर लक्ष्य जाता है, उसीका वह भोक्ता कहलाता है; परंतु अभिप्राय में तो उस पदार्थ का भोक्ता, उसी क्षण खत्म हो गया। (ज्ञानीपुरुष को सभी प्रकार के संयोगों से भिन्नता वर्तती है चाहे संयोग लौकिकदृष्टि से कितना ही महत्त्वपूर्ण या पुराना हो किन्तु भिन्नता में एकक्षण में सब खत्म हो जाता है।) (२१३)

*

इधर से (अंतरमें से) जो ज्ञान खिलता है, वो सारे नाटक को (तटस्थ होकर) देखता है - कैसे-कैसे भाव उठते हैं? कैसे ठगाते हैं? कैसे खिँचाव (परद्रव्य-प्रति) होता है? - ये सब नाटक, ज्ञान देखते रहता है। (२५२)

*

(ज्ञानीके) ज्ञानकी रागके प्रति पीठ होती है, मुख नहीं होता। इधर (अंतरमें) मुख होनेसे राग स्वयं छूट जाएगा। रागको कम करुँ, छोडूँ - ऐसा तूफ़ान नहीं होता। रागको कम नहीं करना है और लम्बाना भी नहीं है। 'स्वभावका बल बढ़ते-बढ़ते राग कम होता जाता है।' ज्ञानका परिणमन अर्थात् स्थिरता - बस! यही एक रागके नाशका उपाय है। रागको कम करुँ, (ऐसा कर्तृत्व भाव) यह कोई उपाय नहीं है। (२५९)

*

दृष्टि अपने को प्रभु ही देखती है! कमज़ोरी से विकल्प आया तो अपनी निंदा-गर्हा भी होती है; 'मैं पामर हूँ' ऐसा भी विकल्प आता है; परंतु यह तो क्षण पूरता ही विकल्प है, आ गया तो आ गया। (किसी ज्ञानी को तो दृष्टिबल प्रबल होनेसे निंदा-गर्हादि का विकल्प कम भी आता है) (२८४)

*

जब अंतर्दृष्टि जमे तब ही (वर्तमान पर्याय की) योग्यता का ज्ञान यथार्थ होता है; तभी (जिस काल की जैसी) 'योग्यता' कहने का अधिकार है। (३०४)

*

पूज्य बहिनश्री चंपाबेनकी विडीयो तत्त्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. १४-B

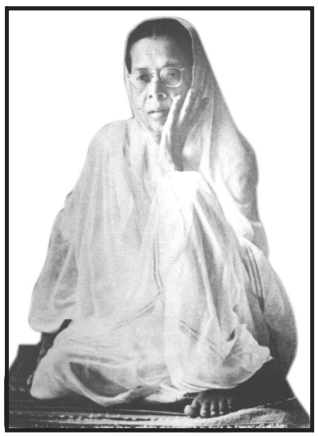

मुमुक्षु :- आत्मा ज्ञ-स्वभावी होनेसे स्वभाव अपेक्षासे तो रागादि विभावों का भी ज्ञायक ही है। यह समझते वक्त विचार आया कि मुझे राग है, दृष्टान्त लेते हैं कि मुझे मीठी चीज अच्छी लगती है। तो वह एक राग हुआ। उसका मैं जाननेवाला भिन्न हूँ, ऐसे भाव में आकर मीठी चीज आये तो उसे नहीं खानी, ऐसा करना? या वह तो खानेवाला खाता है, मैं तो भिन्न हूँ ऐसा उसे मानते रहना?

समाधान :- राग छूट नहीं जाता, परन्तु राग मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो ज्ञायक हूँ, ज्ञाता हूँ, मैं जाननेवाला ज्ञायक हूँ, इसप्रकार स्वयं भिन्न पड़े, रागसे भिन्न पड़े और ज्ञायक रहे। खाने की मीठी हो चाहे कुछ भी हो, वह पुद्गल का स्वभाव है, मेरा स्वभाव नहीं है। इसलिये स्वयं ज्ञायक जाननेवाला रहता है। मैं जाननेवाला ज्ञायक हूँ। यह खाना-पीना मेरा स्वरूप नहीं है। राग होता है, खाने के राग के कारण यह क्रिया होती है, लेकिन राग का भी मैं जाननेवाला हूँ। इसप्रकार उसका जाननेवाला रहे। परन्तु वह वास्तविक ज्ञायक कब रहता है? कि अन्दरसे स्वयं एकत्वबुद्धि तोड़े तो ज्ञायक रहे। उसके पहले तो वह भावना करे कि मैं ज्ञायक हूँ। वास्तविक ज्ञायक तो कब हो? कि वह आत्मा को पहचाने, आत्मा का स्वरूप पहचाने, अन्दरसे भिन्न पड़े तो वह वास्तविक ज्ञायक रहता है। नहीं तो ज्ञायक हूँ, ऐसा विचार करके पहचाना परन्तु वास्तविक ज्ञायक रह नहीं सकता। भावना करे कि मैं ज्ञायक हूँ। इसलिये उसमें खाना छूट नहीं जाता। क्योंकि राग है तबतक उसका खाना छूटता नहीं। स्वयं राग में बैठा है इसलिये। राग के कारण वह होता है। परन्तु वह खाये-पीये वह आत्मा खाता नहीं, आत्मा पीता नहीं, राग के कारण यह होता है। लेकिन राग की परिणति में स्वयं जुड़ता है। पुद्गल निमित्त है। स्वयं ही जुड़ता है, पुरुषार्थ की मन्दता के कारण। परन्तु जाने कि यह मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो जाननेवाला हूँ। राग होता है, इस राग के कारण जुड़ता हूँ। यदि मैं स्वरूप में लीन हो जाऊँ तो मुझे राग भी नहीं चाहिये और खाने की क्रिया सब छूट जाती है।

मुमुक्षु :- तो क्रिया भी सब छूट जाती है?

समाधान :- स्वरूप में लीन हो जाये तो सब छूट जाता है। स्वरूप में लीन हो जाये तो। लेकिन लीन नहीं होता, बाहर आये तो वह श्रद्धा रख सकता है। ज्ञायक की परिणति रख सकता है। लेकिन खाना छूट जाये (ऐसा नहीं बनता)। राग है तबतक नहीं छूटता।

मुमुक्षु :- ऐसा ही एक दूसरी जगह देखा, महावीरस्वामी को सर्पने डंख मारा, उन्होंने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया। क्योंकि वे यह जानते थे कि यह देह को होता है। मैं देह नहीं हूँ, मैं तो इससे भिन्न हूँ। इतनी हद तक पहुँच गये कि सर्प काटे तो भी कुछ नहीं करे। तो हम लोग डण्डा लेकर मारनेवाला, वेदान्त कहता है कि चिदाभास भिन्न है, वह तो मारने का प्रयत्न करेगा, परन्तु आत्मा भिन्न है ऐसा मानकर भिन्न रहना या डण्डा को भी छूना नहीं और काट ले, मर जाये तो भी शरीर मरता है, मैं भिन्न हूँ, उसने कोई क्रिया नहीं की। यह दोनों प्रश्न इसमेंसे उत्पन्न होते हैं।

यदि दूसरा प्रश्न ले तो तप करना अत्यंत आवश्यक है। .. इतना तप करते थे जंगल में जाकर कि देह में कीड़े पड़ जाये तो भी हिलते नहीं थे। क्योंकि मैं देह नहीं हूँ तो मुझे देह के खातिर क्यों तकलीफ उठानी? भोजन मिलना होगा तो मिलेगा, पानी मिलना होगा तो मिलेगा, सर्प का काटना होगा तो काटेगा। तो उसे सच्चा ज्ञायक स्वरूप प्रगट हो। वही वस्तु बराबर है और वैसा ही उसे अभ्यास करना चाहिये। नहीं तो बात में ज्ञायक स्वरूप कहनेमात्र रहा, उसमें ऐसी कोई शक्ति प्रगट नहीं होती, जैसी महावीरस्वामी में दिखाई दी वैसी अथवा स्वामीजी में दिखाई दी। उसके लिये तो उसे देह से सम्बन्ध विच्छेद ही कर देना चाहिये। इसका समाधान कीजिये।

समाधान :- सर्प काटे तो हिंसा में जुड़ना वह बात बराबर नहीं है। सर्प काटना होगा तो काटेगा, वह तो अपने आयुष्य अनुसार होता है। हिंसा में जुड़ना ठीक नहीं है। जो होनेवाला होगा वह होगा, मैं तो जाननेवाला हूँ। आयुष्य पूर्ण हुए बिना कोई कुछ नहीं कर सकता। हिंसा में जुड़ना बराबर नहीं है।

मुमुक्षु :- नहीं, हिंसा में जुड़ना ऐसा नहीं, शरीर के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रहे तो शरीर कार्य करना ही अटक जाये, वैसी परिस्थिति उत्पन्न होनी चाहिये न? शरीर के साथ उसने बिलकुल सम्बन्ध काट दिया, तीनों देह का मैं दृष्टा-ज्ञाता भिन्न ही हूँ, ऐसा यदि उसे निश्चय हुआ हो तो फिर देह के साथ उसे क्या लेना-देना?

समाधान :- उसे निश्चय हुआ परन्तु उस प्रकार की अभी प्रयत्न में क्षति रहती है। गृहस्थाश्रम में होते हैं उसे क्षति है, इसलिये जुड़ता है। उसकी क्षति है। श्रद्धा में रहता है, लेकिन जो मनुष्य अन्दर बिना रुचि के, अन्दर कुछ लगी नहीं है, बिना श्रद्धा के रचापचा रहता है, उससे तो जिसे श्रद्धा हुई है कि मैं जाननेवाला ज्ञायक हूँ, यह मेरा स्वरूप नहीं है। उसे खटक रहती है, परन्तु उसकी क्षति के कारण गृहस्थाश्रम में खड़ा है, राजकाज में खड़ा है, सब क्रिया में खड़ा है, उसकी क्षति है। परन्तु जब वह आगे बढ़ता है तब तो सब छूट जाता है। मुनिदशा आये तब तो सब छूट जाता है। आहार आनेवाला हो तो आये, शरीर को काटे तो भले ही काटे, उपसर्ग, परिषह आये तो भले आये, वह तो सब स्वरूप में आगे बढ़े तो सब छूट जाता है। गृहस्थाश्रम में रहता है उसे क्षति है। क्षति है इसलिये गृहस्थाश्रम में रहा है।

मुमुक्षु :- और प्रयत्न का मार्ग भी यही कि मैं तो जाननेवाला हूँ, इस भाव में ही रहना चाहिये। उस भाव में रहे लेकिन जबतक गृहस्थाश्रम में है तो सब कार्य में जुड़ता है। भिन्न रहे, उससे रहा जाये उसप्रकारसे वह भिन्न रहता है। भिन्न रहता है, लेकिन क्षति है तो सब जगह जुड़ता है। मुनि हो तब सब छूट जाता है।

मुमुक्षु :- तो-तो उसे व्यवहार छोड़ना ही पड़े। छूट ही जाता है।

समाधान :- मुनिदशा आये तब तो सब छूट जाता है। छूट ही जाये। अन्दरसे वैराग्य आये इसलिये छूट जाता है।

गुरुदेव ने कहा है न, शरीर और आत्मा भिन्न है। शरीर शरीर का कार्य करे, आत्मा आत्मा का कार्य करे। आत्मा जाननेवाला ज्ञायक है। सुनाई देता है न? जाननेवाला है, गुरुदेवने कहा है न? आत्मा को-ज्ञायक को याद करना। गुरुदेव को, भगवान को, इत्यादि याद करना। आत्मा को याद करना, आत्मा जाननेवाला है। समझ में आता है? आत्मा जाननेवाला ज्ञायक है उसे याद करना।

*

(पृष्ठ संख्या १९ से आगे..)

पड़ता है। जबकि यहाँ पर्यायमें परमात्मा प्रगट होनेकी बात हैं, तीन लोकका नाथ कि, जिसके आगे सब दीन-हीन प्राणी हैं। कैसे? सारे जगतके प्राणी दीन-हीन हैं। दुर्गति में न जाये कहाँ जायेंगे ऐसे लोग। क्योंकि उन लोगोंको लायसन्स पर दस्तखत करने पड़ते हैं। जैसे कि, स्लोटर हाउसका लायसन्स इश्यूड। अब आपको कतलखाना चलानेकी इज़ाज़त है। कतलखाना चलानेवालेको बादमें पाप लगता है। करानेवालेको पाप पहले लगता है। उसको सातवीं नरकका बंध पहले हो जाता है। चलानेवालेको बादमें होगा। सीधा सातवीं नरक जायेगा बिना रुके कही रास्तेमें गाड़ी रुकेगी नहीं नौनस्टौप।

ये शासन चलानेमें ये सारी दिक्कतें हैं। अनुमोदना हो गई न? अनुमोदना जो हो गई। नाम दिया जाये कि लायसन्सींग अथॉरिटी। जबकि वह नरक जानेकी अथॉरिटी है ऐसा है। ऐसी स्थिति है लेकिन वह जब आये तब सबकुछ समयके साथ करना पड़ता है। क्योंकि वहाँ जिम्मेवारी है। यहाँ आत्माको अधोगतिमें जानेसे रोकने की जिम्मेवारी क्यों नहीं समझते? इसमें शास्त्रका अविनय है। जिनके वचन हैं उन ज्ञानियोंका भी अविनय है। जबकि विनय बिना विद्या सम्पन्न नहीं होती। यह विद्या तो अध्यात्मविद्या है। विद्याकी आकांक्षा हो किन्तु विनयका यदि अभाव हो तो कभी अध्यात्मविद्या प्राप्त नहीं हो सकती। अत: स्वाध्यायमें आनेवाले सौ आदमीमें से निन्यानवें समय पर आये और एक देरी से आये ऐसा भी नहीं चले। इतनी खुदकी दरकार होनी चाहिये।

(प्रवचनांश...श्री 'स्वानुभूतिदर्शन' दिनांक ०२-०९-९७, प्रश्न - ४८१, प्रवचन क्र.- ३९३, ३० मिनिट पर)

*

अध्यात्मका विषय परम गंभीर है, उसका अगंभीरतासे कथन करना अथवा श्रवणकालमें अगंभीरतासे सुनना यह जीवका बड़ा दोष है, उसमें गुप्त अनादर / उपेक्षा (स्वच्छंद) हो जाता है, ऐसा जानते हैं । अतः हे जीव ! स्वाध्यायके वक्त गंभीर उपयोग रख।

संसारमें एक मरण-प्रसंगमें भी तद्योग्य गंभीरता रखी जाती है , तो यह अनन्त मरणके निवारण प्रसंगकी विचारणाके विषयमें अगंभीर परिणामसे प्रवर्तन करना, यह बालबुद्धि नहीं है क्या? ओघसंज्ञा और लोकसंज्ञासे यह दोष सहजाकाररूप होता है।

परम गंभीर अध्यात्मतत्त्वके प्रतिपादक श्रीगुरुकी गंभीर गुरू-गिराके प्रति अगंभीर वर्तना-उसे स्वच्छंदका प्रकार समझने योग्य है। वह शास्त्र और गुरुका अविनय है। दर्शनमोहके आवरणका कारण है।

- अनुभव संजीवनी-१०२९

श्रोताकी श्रीगुरुके प्रति जिम्मेवारी!!

-पूज्य भाईश्री शशीभाई

'अभी तक शरीरके लिये, बाह्य सुविधाओंके लिये अनंतभव गँवाये हैं; किंतु तेरे परिभ्रमणका अंत नहीं आया। अब आत्माके लिये इस एक भवका ऐसा उपयोग कर जिससे कि तेरे समस्त भवोंका अभाव हो जाय।' इससे पहले वाली पंक्ति चैतन्यका कार्य करना यह तेरी जिम्मेवारी नहीं है? संसारके कार्योंकी जिम्मेवारियों पर ज़ोर दिया जाता है। स्कूल, कॉलेजमें देरी से नहीं पहुँच सकते। अभी-अभी हमारी चर्चा हुई, वरना क्लासमें दाखिल नहीं होने देते। फीस चुकानेके बावजूद भी। क्योंकि वहाँ कोई फ्री में नहीं जाता। वहाँ फीस पहले ले लेते हैं फिरभी वहाँ के कानूनके हिसाबसे जाना पड़े, यहाँ पर स्वाध्यायमें सब चलता है, कभी भी आरामसे टहलते-टहलते आ सकते हैं। क्योंकि यहाँ कोई टोकनेवाला नहीं है कि, भैया आप देर से आयेंगे तो आपके लिये दरवाज़ा बंद हो जायेगा। जिम्मेवारी किसकी हुई?

आत्मकल्याण करना वह आत्माका प्रथम कर्तव्य है। पहले खुद आत्मा है, तत् पश्चात इस घरमें जन्म हुआ है, या जन्मके पश्चात आत्मा हुआ है? नहीं आत्मा तो था ही बादमें यहाँ जन्म हुआ है। अब पहले से जो था, इसका कर्तव्य पहले या जो बादमें हुआ इसका कर्तव्य पहले? वैसे लोग उलटा ग्रहण कैसे करते हैं? वैसे यहाँ स्वाध्यायमें समयके पहले उपस्थित हो जाना यह श्रोताकी जिम्मेवारी है। क्योंकि इसमें विनय है। वह विनयका प्रकार है। मानों कि आपके घर प्राईम मिनिस्टर आनेवाले हो तो क्या आप गुटली मारकर १५ मिनट भी देर से आयेंगे क्या? कि, साहब, बहुत ज़रुरी काम था न! अस्पतालमें कही जाना पडे ऐसा था इसलिये देर हो गई जरा। अरे! टोप प्रायोरिटीमें उनके स्वागतके लिये आपको हाज़िर रहना पड़ेगा। फिर भले ही वह शिड्यूल कास्टका आदमी क्यों न हो। दिल्लीकी गादी पर बैठा हो चाहे ढेढ़-भंगी। फिलहाल तो चाहे कोई भी मिनिस्टर बन सकता है। उन लोगोंको मिनिस्टर होनेका प्रथम चान्स दिया जाता है। अत: अपनेको पता नहीं है कौन किस ज्ञाति-जातिका होता है। नाम सबके विचित्र होते हैं पासवान, गौडा ऐसे-ऐसे सब हमें समझमें आना मुश्किल है कौन कैसा है इसमें। फिर भी इनके स्वागतमें साहेब, साहेब, साहेब करते हुए आगे से उपस्थित रहना

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १८ पर..)

REGISTERED NO. : BVHO - 253 / 2024-2026
RENEWED UPTO : 31/12/2026
R.N.I. NO. : 70640/97
Published : 10th of Every month at BHAV.
Posted at 10th of Every month at BHAV. RMS
Total Page : 20

'सत्पुरुषों का योगबल जगत का कल्याण करे'

... दर्शनीय स्थल...

श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर
भावनगर

स्वत्वाधिकारी श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट की ओर से मुद्रक तथा प्रकाशक श्री राजेन्द्र जैन द्वारा अजय ऑफसेट, १२-सी, बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८० ००४ से मुद्रित एवम् ५८० जूनी माणिकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४ ००१ से प्रकाशित
सम्पादक : श्री राजेन्द्र जैन -09825155066

Printed Edition : 3740
Visit us at : http://www.satshrut.org

If undelivered please return to ...
Shri Shashiprabhu Sadhana Smruti Mandir
1942/B, Shashiprabhu Marg, Rupani,
Bhavnagar - 364 001